



संशय से निश्चयात्मक ज्ञान की अवधारणा: (अद्वैतवेदान्तदर्शन के सन्दर्भ में)

बनास कुमारी मीणा, शोधच्छात्रा
शोध-निर्देशक- प्रो. राम नाथ झा
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली ११००६७

भूमिका-

वैदिक काल से ही अनेक ऋषियों द्वारा निरन्तर ज्ञान के विषय पर चर्चा की गयी है और उस सत्य तत्त्व की खोज में वेद, आरण्यक, ब्राह्मण व उपनिषद् जैसे शास्त्र समाज में आये। भारतीय दर्शन भी उसी सत्य का दूसरा नाम है। अतः सत्य को देखना या साक्षात्कार करना या साक्षात् अनुभव करना ही दर्शन कहलाता है। उत्पत्ति की दृष्टि से **philo+logos** यहाँ **philo** का तात्पर्य है बुद्धि तथा **logos** का अर्थ है ज्ञान अर्थात् बौद्धिक ज्ञान ही दर्शन है।¹ दर्शन को एच.एम.भट्टाचार्य इसप्रकार बताते है कि-“The world philosophy comes from the lover of wisdom unlike the sophists-the wise men... So in india philosophy arose from the deeper needs of spiritual life....”² अर्थात् भारतीय दर्शन आध्यात्मिक जीवन का सार है क्योंकि इसकी उत्पत्ति आध्यात्मिक असंतोष से हुई है।

भारतीय साहित्य-परम्परा में पुराण-परम्परा से दर्शन-परम्परा अधिक प्रधान रही है। भारतीय धर्म भी, चाहे वह सनातन धर्म हो, चाहे बौद्ध या जैन सभी दार्शनिक धर्म रहे है। भारतीय दर्शन के अनुसार जो युक्तियुक्त है, अनुभूति से सङ्गत है, वही तत्त्व है, और वही सत्य है। इसी सत्य अर्थात् ज्ञान को संक्षिप्त रूप से वेदान्त के सन्दर्भ में बताया जायेगा।

¹ ज्ञान मीमांसा का समीक्षात्मक विवेचना. प्रो. सोहन राज तातेड, पृ. ७

² उपरोक्त

वेदान्त का अर्थ-

वेदान्त वह ज्ञान है जिसमें ज्ञान की पराकाष्ठा का प्रतिपादन किया गया है। यह ज्ञान परम पुरुषार्थ रूप में अभीष्ट है। इसी प्रकार वेदान्त वह ज्ञान है जो मोक्षस्वरूप है। वेदान्त तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्वज्ञान का स्वरूप है कि ब्रह्म सत् है। जगत मिथ्या है। जीव ही ब्रह्म है।³

अद्वैतवेदान्त में ज्ञान का स्वरूप-

पारमार्थिक दृष्टि से एक ही तत्त्व है, जो सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदों से रहित है, सत्य है, चैतन्य है, आनन्द है, निर्गुण है, निष्क्रिय है, असङ्ग है, अव्यपदेश है, अपनी ही महिमा में स्वयं स्थित है।

ज्ञान का स्तरीय विभाजन-

ज्ञान को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया गया है -

१. नित्य ज्ञान
२. अनित्य ज्ञान

नित्य ज्ञान में परमतत्त्व का चित्पक्ष होता है और अनित्य ज्ञान दैनिक जीवन में अनुभव में आने वाला उत्पत्ति-नाश से युक्त ज्ञान आता है।⁴ ऐसे ज्ञान को अजन्य जन्य ज्ञान भी कहते हैं। वास्तव में ज्ञान का अर्थ चैतन्य ही है, जो परमतत्त्व स्वरूप है। वह स्वयं प्रकाशित है और वह परमतत्त्व किसी क्रिया का फल नहीं है। जबकि अनित्य ज्ञान व्यवहारिक ज्ञान होता है। इसमें एक वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होना तथा समाप्त होना चलता रहता है। एक क्षण में एक व्यक्ति एक ही ज्ञान को जान सकता है और दूसरे क्षण में दूसरे ज्ञान को लेकिन वास्तव में ज्ञानवस्तु (अखण्ड चैतन्यपरमतत्त्व) में अनित्यता कभी भी सम्भव नहीं है।

ज्ञान को अन्य ४ स्तर पर भी विभाजित किया गया है-

१. प्रथम स्तर-

³ ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः। ब्रह्मज्ञानावलीमाला, शंकराचार्य

⁴ दृष्टिर्द्विधा पारमार्थिकी अपारमार्थिकी च। तत्र पारमार्थिकी दृष्टिरात्मनः स्वरूपमन्या शब्दाद्याकारनिर्भासवती जन्मविनाशवती च।
नै.सि.चं. पृ. ९०

अद्वितीय परमतत्त्व का स्वरूपभूत चैतन्य, जो अपनी महिमा में स्वयं ही स्थित है, जहाँ किसी के प्रकाशित होने का अवकाश न हों, प्रकाश-मात्र ही स्थित होना और जहाँ प्रकाशक व प्रकाश्य के विकल्प का पूर्णतया अभाव हो।⁵

२. द्वितीय स्तर-

इस स्तर में मायोपाधि 'ईश्वर'-पदार्थ का स्वरूपचैतन्य जो उसके 'सर्वज्ञ' व सर्ववित् होने का हेतु है, जिसके ज्ञानमय तप से सम्पूर्ण जगत् रूपायित है।⁶ इस स्तर पर जगत् के प्रत्येक पदार्थ का सभी दिशाओं से ज्ञान सर्वदा उदित रहता है, किन्तु ज्ञातृ-भाव किसी में नहीं रहता है। किन्तु कोई भी पदार्थ किसी भी प्रकार से अज्ञात नहीं होता है।

३. तृतीय स्तर-

यह चैतन्य की वह अवस्था है, जिस में वह विशेष रूप से कोई एक वस्तु जानते हुये या न जानते हुये भी सामान्य रूप से बहुत कुछ जानता है, इस स्थूल व्यवहार में इसे ज्ञान कहते हैं। जैसे -मैं पक्षी को देखता हूँ। ऐसा जो समग्र ज्ञान होता है उसे जीव साक्षी या 'भान' नाम दिया गया है।⁷

४. चतुर्थ स्तर-

'भास' अर्थात् पृथक्-पृथक् विषयों का ज्ञान। यह ज्ञान का वह स्तर है जिस से हम भली-भाँति परिचित हैं। यही ज्ञान हमें नानात्व का बोध करवाता है अतः इस अवस्था में एक समय में एक ही विषय का ज्ञान होता है तथा अन्य विषयों का उस समय अज्ञान रहता है।

अतः प्रथम व द्वितीय स्तर पर सर्वथा अज्ञान का अभाव पाया जाता है, तृतीय स्तर पर ज्ञान होते हुए भी किञ्चित् अज्ञानत्व व्यवहार की सम्भावना रहती है। किन्तु चतुर्थ स्तर में वही ज्ञान है जो उस क्षण में जाना जा रहा है, उसके पहले और बाद में वह वस्तु और अन्य सभी वस्तुओं का अज्ञान रहता है।

अतः ज्ञान का प्रथम स्तर सर्वदा एकरस, अखण्ड, अनन्त है, द्वितीय स्तर माया के सापेक्ष होने के कारण कदाचित् विलीन होने की सम्भावना से युक्त है। तृतीय स्तर में अज्ञान होने का भाव स्फुटित होता

⁵ परायणं ज्योतिरेकं तपन्तरम्। प्रश्न.उ.१/८, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तै.उ. २/१/१

⁶ यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। मु.उ.१/१/९

⁷ य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्। कठ.उ.२/१५

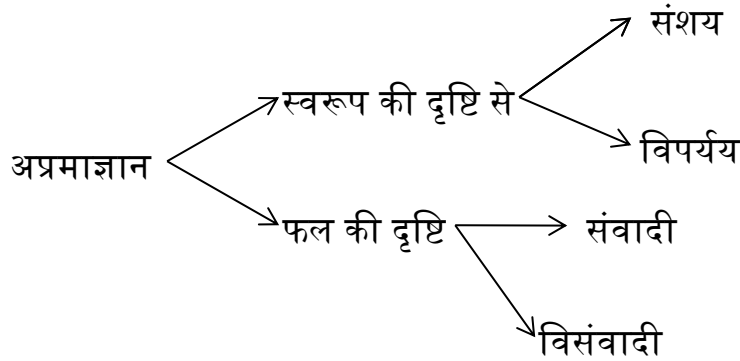
है और चतुर्थ स्तर में एक-एक ज्ञात से अतिरिक्त सब कुछ अज्ञात की श्रेणी में आ जाता है। अतः तृतीय व चतुर्थ स्तर पर अविद्या का आवरण सघन होता चला जाता है।

अप्रमा क स्वरूप-

जो ज्ञान प्रमा नहीं है वह अप्रमा कहलाता है। प्रमा का अर्थ होता है यथार्थ ज्ञान। यहाँ अप्रमा कहने से प्रमा अर्थ के बिल्कुल विपरीत अर्थ हो जाता है। अतः यहाँ पर केवल प्रमा के योग में नञ् का प्रयोग करने पर इसके विभिन्न अर्थ निकलते हैं -

१. बाधितज्ञान- जिस ज्ञान के विषय का व्यवहारदशा में ही बाधित हो जाय।
२. अयथार्थज्ञान- जो ज्ञान यथार्थ न हो, विषय के अनुरूप न हो, विषय व ज्ञान का आकार एक न हो वह ज्ञान अप्रमा होगा।
३. अनिश्चयात्मकज्ञान- जो ज्ञान निश्चात्मक न हो वह भी प्रमा की कोटि में नहीं आयेगा।

अप्रमाज्ञान को २ भागों में विभाजित किया गया है-



अप्रमाज्ञान को स्वरूप की दृष्टि से २ भागों में विभाजित किया गया है-

१. संशयज्ञान
२. विपर्ययज्ञान

संशयज्ञान-

जब एक ही धर्मी का परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों से विशिष्ट रूप से ज्ञान होता है उसे संशय ज्ञान कहा जाता है। जैसे- धुंधले प्रकाश में दूर स्थित किसी सुखे वृक्ष के टूठ (स्थाणु) को देखने वाला व्यक्ति समझ नहीं पाता कि यह दूर से दिखाई देती हुई वस्तु कोई मनुष्य है या कोई सुखे वृक्ष का तना ही है,

अथवा मनुष्यत्व और वृक्षत्व दोनों को बारी-बारी से एक ही वस्तु में समझना एवं उन में से किसी एक का निश्चय न कर पाना संशय है। इस प्रकार अनिर्णीत ज्ञान को संशय कहा जाता है।

किसी भी वस्तु को अज्ञात बनाने वाले २ प्रकार के आवरण होते हैं-

१. असत्त्वापादक
२. अभानापादक

जब संशय स्थल पर अन्तःकरण इन्द्रियादि द्वारा उस विषय तक जाता है, या विषय का ग्रहण करता है तो अन्तःकरणवृत्ति बनती है। किन्तु दोष होने के कारण जैसे -प्रकाश की मन्दता, इन्द्रिय में दोष एवं उस वस्तु का दूरी पर होना आदि कारणों से यह वृत्ति उस वस्तु के असत्त्वापादक आवरण को हटा देने के पश्चात् अभानापादक आवरण को पुरी तरह नहीं हटा पाती है। इसलिए 'वहाँ कुछ है' ऐसा निर्विकल्प रूपी ज्ञान का निश्चय होता है, किन्तु यह निश्चय नहीं हो पाता है की वह निर्विकल्पक ज्ञान क्या है। इन सब दोष के कारण उस वस्तु में मात्र एक या दो गुणों के आधार पर हम उस गुण से युक्त अनेक आकारों वाला ज्ञान अपने अन्तःकरण में उदित करने लगते हैं। जिससे एक धर्मी उस वस्तु में नानाप्रकार के धर्म दिखाई देने लगते हैं और इसी ज्ञान को संशय कहते हैं। कारिकावली में संशय का लक्षण इस प्रकार दिया गया है- "एकधर्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशयः"⁸ अर्थात् एकधर्मावच्छिन्न विशेष्यता से निरूपित परस्परविरुद्ध-प्रकारक ज्ञान संशय कहलाता है।

संशय के भेद-

विद्वानों ने संशय को द्विकोटिक व चतुष्प्यकोटिक भेद से दो प्रकार का ही मानते हैं, जैसे-'स्थाणु है या नहीं है' यह द्विकोटिक संशय है; एवं 'स्थाणु है या पुरुष है' कहने में दोनों दशाओं के साथ 'या नहीं' जुड़ा रहने से चार कोटि बन जाती हैं। वास्तव में संशय की दो ही कोटि होती है-

१. भाव या विधि कोटि (वह स्थाणु है?)
२. अभाव या निषेध कोटि (या नहीं है?)

संशय के कारण- संशयज्ञान होने के त्रिविध कारण बताये गये हैं-

१. साधारणधर्मविशिष्ट धर्मी का ज्ञान।
२. असाधारणधर्मविशिष्ट दो धर्मियों का ज्ञान।
३. विप्रतिपन्न व्यक्ति के वाक्य-श्रवण से उत्पन्न ज्ञान।

⁸ कारि. १३०, न्या. सि.मु. पृ. १११, वेदा.त.वि. पृ. २६

अतः जब तक विशेषज्ञान नहीं हो जाता है तब तक उभयोकोटिज्ञान संशय कहलाता है। अथवा केवल कोटिद्वय का स्मरण तथा धर्मी से इन्द्रियसन्निकर्ष ये दो ही कारण संशयज्ञान को उत्पन्न करते हैं, कोटिद्वय के स्मरण से उभयोसाधारण धर्म का उदय होता है।

विपर्ययज्ञान-

विपर्ययज्ञान का तात्पर्य है-विपरीत ज्ञान। योग-परिभाषावली में इसका स्वरूप है- 'अतद्रूपप्रतिष्ठ मिथ्याज्ञान'⁹ वेदान्त में भी इसी प्रकार कहा गया है कि- 'अतस्मिंस्तद्रूपावभास' तथा मिथ्या वस्तु का ज्ञान इत्यादि अध्यास या भ्रम के लक्षण कहे गये हैं। अतः भ्रम ही विपर्यय ज्ञान कहलाता है।

वेदान्त में भ्रम ज्ञान का विश्लेषण ख्यातिवाद के रूप में किया गया है। ख्याति का शाब्दिक अर्थ है- ज्ञान-मात्र। किन्तु दर्शन में यह भ्रमज्ञान के अर्थ में रूढ़ हो गया है। दर्शन में ख्यातिवाद को लेकर सभी दार्शनिकों के अलग-अलग मत हैं। अतः भारतीय दर्शन में ७ प्रकार के मत बताये गये हैं -

१. असत्ख्याति - शून्यवादी बौद्ध
२. सदसत्ख्याति - सांख्य
३. सत्ख्याति - मध्वादि द्वैती
४. आत्मख्याति - विज्ञानवादी बौद्ध
५. अन्यथाख्याति - न्याय-वैशेषिक
६. अख्याति - पूर्वमीमांसक प्रभाकर
७. अनिर्वचनीयख्याति - अद्वैतवेदान्त

अतः अद्वैतवेदान्त ने छः मतों का खण्डन करते हुए अपना मत स्थापित करते हुए कह है कि- 'भ्रम में दिखाई देने वाली वस्तु न सत् होती है, न असत्, न दोनों बल्कि अनिर्वचनीय होती है।'¹⁰

अनिर्वचनीय होने का तात्पर्य निर्वचन का अभाव (किसी प्रकार कहा न जा सकना) नहीं है। सत् व असत् कोटियों से पृथक्-पृथक् या दोनों में एक साथ विलक्षण (भिन्न) होना भी अनिर्वचनीयता नहीं है। क्योंकि ऐसा होने पर असत् का सत् से भिन्न होना, सत् का असत् से भिन्न होना, सत् व असत् दोनों में विलक्षण होना पृथक्-पृथक् सत् व असत् दोनों में ही प्राप्त होना है, इसलिए पृथक्-पृथक् एक (सत् व असत्) प्रकार से विलक्षण होते हुए दोनों से विलक्षण होना ही अनिर्वचनीयता है।¹¹

⁹ विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। यो.सू.१/८

¹⁰ आचार्याः पुनरनिर्वचनीयार्थावभासं विभ्रममाचक्षते। न्या.म.पु.१११

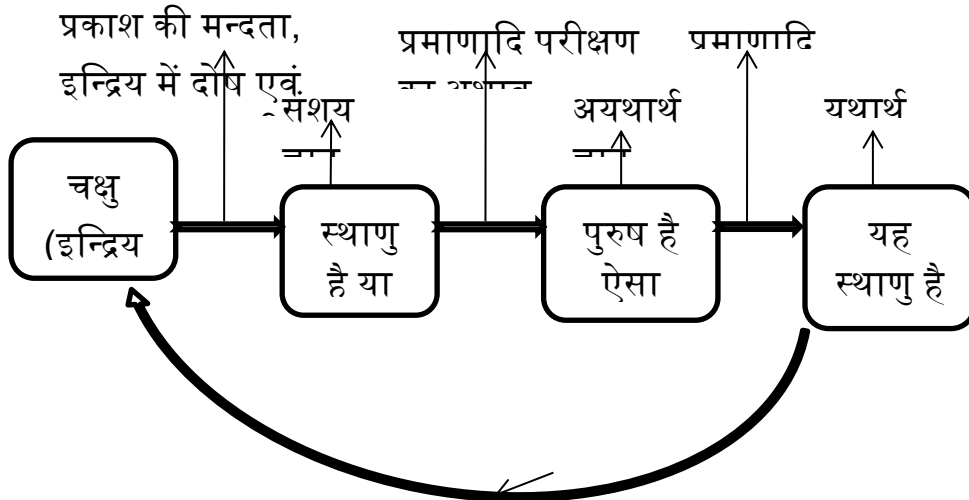
¹¹ न्या.म. पृ.११५

अतः अद्वैतवेदान्त ने इसप्रकार संशयात्मक ज्ञान का निरूपण किया गया है और इस संशय का निवारण व्यावहारिक जगत् में तो निश्चयात्मक ज्ञान अर्थात् प्रमा के द्वारा किया जाता है, और आध्यात्मिक जगत् में मायारूपी आवरण (अज्ञान) के हट जाने पर उस ब्रह्म की सत्ता सिद्ध होती है। इसलिए यहाँ पर संशयात्मक से निश्चयात्मक तक जाने के लिये प्रमा ज्ञान को समझना पड़ेगा उसी यथार्थ ज्ञान से सभी संशयों का निवारण होगा।

निश्चय/प्रमा ज्ञान की अवधारणा-

प्रमा का अर्थ है-यथार्थ। अर्थात् प्रमा शब्द से सूचित ज्ञान यथार्थ, निश्चित, अबाधित तथा अनधिगत विषय वाला होता है। अतः ज्ञान अनेक प्रकार का हो सकता है, जैसे- यथार्थ, अयथार्थ, संशय व निश्चय आदि लेकिन वहीं ज्ञान प्रमा ज्ञान होगा जिसमें यथा अर्थ हो – जिसमें विषय ठीक अनुरूप हो, अर्थात् जिस विषय का ज्ञान इन्द्रियसन्निकर्ष से हुआ है उस विषय का उसी स्थान पर होना ही यथार्थज्ञान कहलाता है।

अतः जहाँ पर ज्ञान का विषय बाधित न हो। जैसे- 'वह चाँदी है' इस ज्ञान में यदि वहाँ चाँदी वास्तव में है, तो उस का इन्द्रिय के द्वार उसी रूप में जो ज्ञान ग्रहण होगा तो उसे यथार्थ ज्ञान कहा जाता है लेकिन वहाँ पर चाँदी न होकर कोई अन्य चमकीली वस्तु पड़ी हो तो उस को देखकर उत्पन्न हुआ ज्ञान 'यह चाँदी है' तो यह ज्ञान अयथार्थ अर्थात् अप्रमा ज्ञान होगा। अद्वैत वेदान्त के अनुसार "स्थाणुः वा पुरुषो वा" इस संशय के अनन्तर अप्रमा/प्रमा ज्ञान होने की प्रक्रिया इसप्रकार है-



स्थाणु का ज्ञान होने के पश्चात् ऐसा यथार्थ ज्ञान अन्तःकरण में जाता है तथा अन्तःकरण में पहले से व्याप्त ज्ञान का अज्ञानरूपी आवरण का हटने से ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है।

इसप्रकार से अद्वैतवेदान्त में प्रमा ज्ञान किया जाता है तथा एक मात्र ब्रह्म की सत्ता सिद्ध की जाती है तथा संशय ज्ञान से निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति की जाती है, लेकिन ब्रह्म ज्ञान के समय ऐसा नहीं होता है। आचार्य शंकर कहते हैं कि ज्ञान केवल वस्तुतंत्र है।¹² इस कारण वस्तु के प्रकृति से ज्ञान प्रभावित होता है और शब्दप्रमाण से मनुष्य बोलने से परोक्ष रूप से मनुष्य नामक प्राणी का बोध होता है तथा अपरोक्ष रूप से समग्र मनुष्यत्व जाति का बोध होता है। उसी प्रकार से आगमवाक्य से ब्रह्म का साक्षात्कार किया जाता है। आत्म अवबोध किसी लौकिक प्रत्यक्षादि-प्रमाण का साक्षात् विषय नहीं हो सकता, अतः वास्तविक सम्यक् ज्ञान आगमवाक्य से ही संभव है।¹³ तथा प्रमाण का कार्य होता है जीवनगत मोह (माया) को हटाना और जब ब्रह्म का साक्षात्कार की दशा होती है तब जीवगत अज्ञान प्रतिबन्धक हो जाता है तथा साक्षात्कारणीय वस्तु न तो जड़ है न विप्रकृष्ट या व्यवहित (दूर) है अर्थात् वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य तथा विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभिन्न होना ही प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है उसी प्रकार वाक्यजन्य शाब्दबोधरूप वृत्तिविशिष्ट चैतन्य का ब्रह्मरूप विषयचैतन्य से अभेद होने के कारण यहाँ शाब्दबोध अपरोक्षात्मक है। अतः वेदान्त में 'तत्त्वमसि' वाक्य से उदित होने वाला सम्यक् ज्ञान से अन्तःकरण में अविद्या का हमेशा के लिये नाश हो जाता है। जिससे आत्मस्वरूप साक्षात्कार हो जाता है क्योंकि अपरोक्षता उसमें स्वतः, स्वरूपतः, स्वभावतः होती है। इसप्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

उपसंहार-

अद्वैत वेदान्त में मुख्य रूप से प्रमाण्यवाद पर चर्चा की गई है। भारतीय दर्शन आध्यात्मिक का सार है, इसकी उत्पत्ति असंतोष से हुई है। भारतीय दर्शन में विशेषरूप से ज्ञान की चर्चा की गई है। अद्वैतवेदान्त दर्शन में ज्ञान को दो भागों में विभाजित किया गया है-यथार्थ एवं अयथार्थ। इसमें अयथार्थज्ञान के द्वारा मस्तिष्क में संक्षय उत्पन्न होता है और उसके लिए ज्ञान का निश्चयात्मक करना जरूरी है, क्योंकि ज्ञान के निश्चयात्मकता के द्वारा ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है। संशयज्ञान से प्रमाता लक्ष्य से विचलित हो जाता है तथा इससे अनर्थ की प्राप्ति होती है। संशय का निवारण प्रमा ज्ञान द्वारा ही किया जा सकता है।

ज्ञान के संशय व निश्चयात्मक पक्ष को हम व्यवहारिक जीवन में भी देख सकते हैं। व्यवहारिक जीवन में हम जब किसी कार्य को करते हैं और तब उस विषय का निश्चित ज्ञान नहीं होता है तो हम संशयात्मक रूप से तो उस कार्य को पूर्ण कर लेते हैं लेकिन उस कार्य से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो पाती है। तथा इससे स्वयं तो भ्रष्ट हो जायेंगे साथ ही समाज में भी उसका प्रभाव देखने को मिलता है क्योंकि

¹²प्रमाणजन्य ज्ञानं, वस्तुतन्त्रमेव तत्..... ब्र.शां.भा. ३/२/२१, पृ. ६२७

¹³ नै.सि. पृ. ४

संशयात्मक ज्ञान के कारण समाज को भी हम संशयात्मक ज्ञान (अन्धकार) में डालते चले जायेंगे जिससे अनिष्ट की प्राप्ति होगी। संसार भी धीरे-धीरे उस अज्ञान से प्रभावित होने लगेगा इसलिए सर्वप्रथम हम अपने अज्ञान का निवारण करके निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए। जिससे हमें लक्ष्य की तो प्राप्ति होगी ही साथ ही सत्य का भी ज्ञान हो पायेगा जो आत्मस्वरूप के प्रकाशन के साथ जगत में व्याप्त अज्ञान का निवारण भी करेगा। धीरे-धीरे उस ब्रह्म तत्त्व की सत्ता का भी आगम प्रमाण (वेदादि) के द्वारा समझ पायेंगे। जिससे आत्मा में सत्, चित्, व आनन्द का अनुभव होगा क्योंकि प्रत्येक जीव में व्याप्त आत्मा उसी ब्रह्म का रूप है और वह स्वयं सत्, चित् व आनन्द स्वरूप वाला है। इसीलिए अद्वैतवेदान्त में उसे सच्चिदानन्द कहा है।

अतः सत्य ज्ञान ही ब्रह्म को जानने के लिए मार्ग का कार्य करता है, संशय ज्ञान पथभ्रष्ट का कार्य करता है। इस प्रकार से अद्वैतवेदान्त में संशय से निश्चय किया जाता है और निश्चयात्मक ज्ञान के हो जाने पर आगामादि प्रमाणों से उस ब्रह्म की सत्ता को जानने का प्रयास किया जाता है। प्रस्तुत शोधपत्र में संशय व निश्चय ज्ञान (सत्य) को किञ्चित् बताने का प्रयास किया गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

- शंकराचार्य, *ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य*, सं० - हनुमानदास षट्शास्त्री, वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, १९६७.
- उर्मिला शर्मा, *अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान*, वाराणसी: तारा प्रिंटिंग, कमच्छा १९७८
- विनय कुमार मिश्र, *वेदान्त दर्शन*, दिल्ली: परिमल पब्लिकेशन, २०१२
- *श्रीमद्भगवद्गीता*, गोरखपुर: गीताप्रेस, सं० २०६३
- सदानन्दः, *वेदान्तसारः* (सुबोधिनीसंस्कृतटीकासहितः), व्या० - आद्याप्रसादमिश्र, इलाहाबाद: अक्षयवट प्रकाशन, २००७.
- प्यार गर्ग, *अध्यात्म, दर्शन एवं विज्ञान* (एक संकलित अध्ययन), नई दिल्ली: नार्दर्न बुक सेन्टर, २००८
- शशिकान्त पाण्डेय, *अद्वैत वेदान्त में मायावाद*, दिल्ली: विद्यानिधि प्रकाशन, २००६
- *किरणावली*, सं०- विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी, बनारस: चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १८९७.
- कौटिल्य, *अर्थशास्त्रम्*, व्या०-वाचस्पति गैरोला, वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, २०१३.

- माधवाचार्यः, *सर्वदर्शनसंग्रहः* (सपरिशिष्ट 'प्रकाश' हिन्दीभाष्योपेतः), सं० उमाशङ्कर 'ऋषि' वाराणसी: चौखम्बा विद्या भवन, २००४ .
- याज्ञवल्क्यः, *याज्ञवल्क्यस्मृतिः*, व्या०- उमेशचन्द्र पाण्डेय, वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत संस्थान, (वि० सं०) २०६५.
- **द्वितीयकस्रोतांसि –**
- अवस्थी, ब्रह्ममित्र, *भारतीय न्यायशास्त्र (एक अध्ययन)*, दिल्ली: इन्दु प्रकाशन, १९६७.
- उपाध्याय, बलदेव, *संस्कृत-वाङ्मय का वृहद् इतिहास (नवम खण्ड-न्याय)*, लखनऊ: उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, १९९९.
- गैरोला, वाचस्पति, *भारतीय दर्शन*, इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन, १९४३
- द्रविड, नारायण शास्त्री, *भारतीय दर्शन की मूलगामी समस्याएँ*, सागर: विश्वविद्यालय प्रकाशन, २००९.
- मिश्र, जगदीशचन्द्र, *भारतीय दर्शन*, वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, २००३.
- वेदालंकार, जयदेव, *भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास (द्वितीय भाग – न्यायवैशेषिक)* दिल्ली: न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, २००४.
- शर्मा, कमला, *न्याय-दर्शन में प्रमाण विचार*, दिल्ली: न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, २००४.
- शर्मा, राममूर्ति, *भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा*, दिल्ली: चौखम्बा ओरियन्टालिया, २००८.
- शास्त्री, धर्मेन्द्रनाथ, *भारतीय दर्शनशास्त्र (न्याय –वैशेषिक)*, बनारस: मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, १९५३ .
- Dasgupta, S.N., *History of Indian Philosophy (5 Vols.)*, New Delhi: Motilal BanarasiDas, 1975.
- Vidyabhooshan, S.C., *History of Indian logic*, Delhi: Motilal banarsidas publishers private limited, 2002.
- **कोशग्रन्थाः –**
- अवस्थी, बच्चू लाल, *भारतीय दर्शन बृहत्कोश*, दिल्ली: शारदा पब्लिशिंग हाऊस, २००५.
- आप्टे, वामन शिवराम, *संस्कृत-हिन्दी-कोश*, वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, २०१४.

- झलकीकर, भीमाचार्य, *न्यायकोशः*, सं०- महामहोपाध्याय वसुदेव शास्त्री अभ्यंकर वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, २०१५.
- Potter, Karl H., *Encyclopedia of Indian Philosophies*, vol- 1-2, Varanasi: Motilal banarasi das, 1995.
- अन्तर्जालस्रोतांसि –
- <http://www.bharatdiscovery.org.in>
- <http://www.hi.wikipedia.org.in>
- <http://www.sa.wikipedia.org/wiki>
- <http://www.hindupedia.com/en/Darsana>
- <http://www.worldcat.ac.in>
- <http://www.sanskritebooks.nic.in>
- <http://www.indcat.ac.in>